International Journal of Hindi Research
www.hindijournal.com
ISSN: 2455-2232
Received: 12-01-2023, Accepted: 11-02-2023, Published: 26-02-2023
Volume 9, Issue 1, 2023, Page No. 52-54

हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों में समाज

डॉ. राजेन्द्र सिंह
सहायक प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, जनता महाविद्यालय, चरखी दादरी, हरियाणा, भारत

सारांश
निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि भारतीय समाज में संयुक्त परिवार विघटन के फलस्वरूप श्रद्धा, सम्मान, आज्ञाकारिता इत्यादि मूल्यों में संक्रमण की स्थिति उत्पन्न हुई जिसने पारिवारिक व्यवस्था को अव्यवस्थित कर दिया। केवल यही नहीं जातीयता एवं साम्प्रदायिकता के भेदभाव ने सामाजिक नींव को हिला दिया जिससे जीवन मूल्यों में अवमूल्यन की स्थिति उत्पन्न हो गई। इस प्रकार आंचलिक उपन्यासकारों ने सामाजिक यथार्थ का चित्रण करके नैतिक मूल्यों में आए विघटन को प्रदर्शित कर सामाजिक ताने–बाने पर प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से कठोर प्रहार किए हैं ताकि अवमूल्यन की इस त्रासदी से समाज को बचाया जा सके और सामाजिक ताना–बाना सुरक्षित रह सके।

मूल शब्दः आंचलिक, हित–चिन्तन, सजातीय भावना, एकीकरण, साधक, साधन–साध्य, अस्तित्व, उत्पादन प्रणाली, अन्योन्याश्रित, प्रथा–परम्परा, जीवन–मूल्य, विघटन, वैतरणी, वर्चस्व, प्रारूप, अवमूल्यन, निरंकुशता, नारी मुक्ति संघर्ष

'समाज' शब्द का प्रयोग मुख्यतः मानव–समूह के रूप्प में किया जाता है। समाज मनुष्य की वह इकाई है जिससे उसके हित–चिन्तन, सुख–दुःख तथा जीवन के व्यवहार समाहित हैं। समाज एक विशाल सागर के समान है, जिसमें विभिन्न जातियों एवं धर्मों रूपी जल धाराएँ समा जाती हैं फिर भी वे अपने अस्तित्व को किसी न किसी रूप में उस बृहत् जल राशि में बनाए रखती है। समाज का प्रत्येक प्राणी जब राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक तथा व्यक्तिगत संबंधों को एक–दूसरे से बनाए रखता है तब ऐसी ही सजातीय भावना वाले व्यक्तियों का एकीकरण समाज के नाम से जाना जाता है। समाज में रहते हुए मनुष्य अपनी भावनाओं का आदान–प्रदान करते हुए अपने व्यक्तित्व का विकास करता है, जिससे उसका जीवन गतिशील धारा प्रवाह से सम्पन्न हो जाता है।

समाजशास्त्रियों का कथन है कि समाज एक संगठन है जिसमें साधक, साधन और साध्य संयुक्त रूप से पाए जाते हैं। जिसमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन होता रहता है। यह परिवर्तन संसार का अपरिवर्तनीय नियम है जो मुख्यतः अतीत से जुड़ा रहता है। इस प्रकार ''समाज का अस्तित्व हमेशा किसी सामाजिक संरचना के रूप में ही पाया जाता है। एक ऐसे संगठन के रूप में जो निरन्तर विकसित होता रहता है तथा जिसके प्रमुख क्रिया–कलाप किसी देवी शक्ति पर नहीं बल्कि उत्पादन–प्रणाली के विकास पर आधारित होते हैं।''[1] समाज के लिए सुनिश्चित व्यवस्था और विधि का होना अनिवार्य है। यदि किसी समाज में ऐसा संभव नहीं है तो यह स्थिति वास्तव में इसके लिए घातक है–''मनुष्यों में जो चलन, कार्य–विधियाँ, पारस्परिक सहायता की जो प्रवृत्ति, शासन की भावना आदि अनेक समूह विभाग विद्यमान हैं। मानव–व्यवहार के संबंध में जो स्वतंत्रताएँ एवं मर्यादाएँ हैं उनकी व्यवस्था ही समाज है।''[2] समाज स्वयं एक संघ है, एक संगठन है, औपचारिक संबंधों का सजीवन योग है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी रूप में एक–दूसरे से आबद्ध हैं, चाहे उसका स्वरूप कुछ भी हो फिर भी सभी अन्योन्याश्रित हैं। प्रत्येक की सामूहिक अस्मिता ही समाज की सूचक है।

इस प्रकार केवल मानव–समूह के नाम को समाज नहीं कहा जा सकता अपितु इस समूह का किन्हीं अन्तःसूत्रों द्वारा जुड़ा होना भी नितांत ज़रूरी है। किसी भी समाज की महत्ता उसके रीति–रिवाजों, प्रथा–परम्परा और प्रणालियों, सत्ता और सहयोग के रूपों, विभाजन के तत्त्वों और व्यवहार आदि के विधि–निषेधों में निहित होती है। समाज लगातार परिवर्तन की ओर अग्रसर रहता है और उसके विभिन्न घटकों को जोड़ने वाले संबंध भी जटिल होते हैं। इसके साथ ही यह भी ध्यातव्य है कि प्रत्येक समाज में व्यक्ति के आचरण, कर्म और उनके विचारों की उच्चता के कुछ निष्कर्ष होते हैं जो समाज को नियंत्रित करने में सहायक होते हैं तथा विशेष प्रकार के आचरण के लिए प्रेरित भी करते हैं, इन्हें ही हम सामाजिक मूल्य कहते हैं।

हिन्दी के आँचलित उपन्यासकारों ने कहा है कि उपन्यासों में अभिव्यक्त मूल्य आंचलिक नहीं अपितु सम्पूर्ण समाज के हैं। इन्होंने कहा भी है–''इस प्रदेश की व्यापक पृष्ठभूमि पर जो मानव मूल्यों और उच्चतर सत्यों के रूप उभरे हैं वे एकदेशीय न होकर पूरे समाज के हैं।''[3] इसे अन्य उपन्यासकारों ने भी प्रत्यक्ष–परोक्ष स्वीकार किया है। उन्होंने आंचलिक परिवेश में जीवन–मूल्यों के विघटन को इस प्रकार अभिव्यक्त किया है कि वे भारतीय समाज, संस्कृति, परिवार, वर्ग, आदि प्रत्येक स्तर का प्रतिनिधित्व करते दिखाई देते हैं। इन उपन्यासकारों ने भौतिकवाद, औद्योगीकरण एवं यंत्रवाद, शहरीकरण और राजनीतिक उठा–पटक आदि अनेक कारणों से परम्परागत मूल्यों में अवमूल्यन की दशा को विस्तृत रूप में प्रस्तुत किया है। भारत में प्रायः संयुक्त परिवार का प्रचलन रहा है लेकिन स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय समाज संस्कृति और संयुक्त परिवारों में विघटन दिखाई देने लगा जिससे आज परिवार में छोटे–बड़े का भेदभाव समाप्त हो गया जिसके फलस्वरूप न तो बड़ों के अधिकार ही सुरक्षित रहे और न सामाजिक परम्परा ही परन्तु यहाँ हम कह सकते हैं कि मूल्य–अवमूल्यन ग्रामीण क्षेत्रों की बजाए शहरी क्षेत्रों में अधिक हो रहा है। इस प्रकार आंचलिक उपन्यासकारों ने श्रद्धा, अनुशासन, सहयोग एवं सौहार्द इत्यादि मूल्यों के अवमूल्यन के माध्यम से सामाजिक ताने–बाने के यथार्थ रूप को अभिव्यक्त किया है।

समकालीन परिवेश में माता–पिता और पुत्रादि पारिवारिक संबंधों एवं आचरण में विच्छेदन की स्थिति उत्पन्न हो गई है। राम और श्रवण कुमार जैसे आदर्श पुत्रों का आचरण भी नई पीढ़ी के युवाओं को प्रभावित नहीं कर पाते। 'रामदरबारी' नामक उपन्यास में उपर्युक्त दशा का यथार्थांकन छोटे पहलवान (पुत्र) और कुसहर प्रसाद (पिता) के माध्यम से किया है। छोटे पहलवान स्वयं को श्रवणकुमार की तरह नहीं देखना चाहता और वह अपने

पिता के साथ दुर्व्यवहार ही नहीं करता अपितु मारपीट भी कर बैठता है तब उसे नैतिकता का पाठ पढ़ाया जाता है कि आपके अपने पिता का आदर करना चाहिए, तुमको उन्होंने पैदा किया है तो वह कहता है–''कोई हमने स्टाम्प लगाकर दरखास्त दी थी कि हमें पैदा करो। चले साले कहीं के पैदा करने वाले।''[4] सामाजिक मूल्यों के अवमूल्यन का एक रूप और देखिए–'' कंधे पर काँवर रखे हुए, माँ बाप को इधर–उधर मुर्गों की तरह लटकाकर चलना एक शर्मनाक बात थी। यह मजदूरों का काम था''[5] केवल यही नहीं 'अलग–अलग वैतरणीं का हरिया भी श्रवण को आदर्श नहीं मानता। वह अपने अंधे माता–पिता को कहता है कि ''यह अंधा समझता है कि मैं इसे काँवर में बिठाकर ढोता रहूंगा।''[6] हरिया पिता–पुत्र संबंधों को आर्थिक तुला पर तौलता है, जब तक खेतों में अच्छी पैदावार होती है तो परिवार में सुख–शांति रहती है और प्राकृतिक आपदा के कारण जब फसल नष्ट हो जाती है तो पारिवारिक संबंध भी विकृत हो जाते हैं। अतः आंचलिक उपन्यासकारों ने इस सामाजिक सत्य का उद्‌घाटन सजीवता से किया है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि इन उपन्यासों में पिता–पुत्र के संबंधों का अवमूल्यन ही नहीं मिलता अपितु माता–पिता और संतान के पारस्परिक संबधों में माधुर्य भी दिखाई देता है– भोलानाथ (देहाती दुनिया), गीधू (हजार घोड़ो पर सवार), मंगरू (लोहे के पंख), जसौत सिंह (हौलदार) सतीश (जल टूटता हुआ) आदि ऐसे व्यक्तित्व हैं जो अपने माता–पिता की आज्ञा की अनुपालना करते हैं।

वर्तमान समाज में जातिप्रथा की भावना चरम सीमा पर है। इसी भावना के परिणामस्वरूप समाज अनेक वर्गों में विभाजित हो गया है। पारस्परिक सौहार्द ने कटुता का स्थान ले लिया, जिससे मतभेद और घृणा को बढ़ावा मिला। इस प्रकार जातिवाद की यह धारणा मानवीय मूल्यों और आदर्शों में अवरोध पैदा करती है जिससे समाज में स्वार्थपरता, अत्याचार, अन्याय और उत्पीड़न जैसे अवमूल्यों को प्रश्रय मिलता है।

आंचलिक उपन्यासों में आधुनिक युग की प्रतिस्पर्धा एवं उन्नति ने उपर्युक्त तत्वों को बढ़ावा दिया। ''मैला आँचल'' के प्रशांत को भी जाति सम्बन्धी अनेक प्रश्नों का सामना करना पड़ा। देखिए– ''जाति बहुत बड़ी चीज है। जात–पात नहीं मानने वालों की भी जाति होती है। सिर्फ हिन्दू कहने से ही पिण्ड नहीं छूट सकता। ब्राह्मण है ? कौन ब्राह्मण! गौत्र क्या है ? मूल कौन है ? शहर में कोई किसी से जाति नहीं पूछता। शहर के लोगों की जाति का क्या ठिकाना। लेकिन गांव में तो बिना जाति के आपका पानी नहीं चल सकता।''[7] इसी प्रकार ''परती परिकथा'' में 'अस्पताल' और स्कूल में जातिगत भेदभाव उस समय दिखाई देते हैं जब कायस्थ डॉक्टर केवल अपनी जाति के लोगों का इलाज अच्छी दवा देकर करता है। यही स्थिति स्कूल में भी दिखाई देती है।''[8] केवल यही नहीं जातिगत प्रभाव हमें ''मैला आँचल' में कायस्थों 'आधा गाँव'' में चमारों और मुसलमानों तथा 'अलग–अलग वैतरणी' और 'कब तक पुकारूँ' में ठाकुरों का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

इस प्रकार 'धरती धन न अपना' में चौधरी लोगों का वर्चस्व है तथा 'रतिनाथ की चाची' तथा 'बाबा बटेसरनाथ' में ब्राह्मण समुदाय का बोलबाला है। 'लोहे के पंख' तथा 'देहाती दुनिया' में पूरे गांव पर ठाकुर प्रभावी हैं। 'कब तब पुकारूँ' में ठाकुरों के प्रभाव चित्रण देखिए–'गाँव में ठाकुर अभी तक हुकूमत कर रहा है। मैं उस अधिकार की व्यापकता को देखकर सिहर उठता हूँ क्योंकि वह धर्म की आड़ लेकर इतिहास की शताब्दियों रूपी पसलियों में भाला बनकर धँसा हुआ है। उसको देखकर चमार अभी तक में अभाव अनुभव करता है।''[9] इस प्रकार जातिगत विसंगतियों ने आम जनमानस को आज भी जकड़ा हुआ है। आज भी लोग कहते हैं कि छोटा–बड़ा भगवान के घर से ही बन कर आता है। देखिए –''जाति के अठोत और करम के हीन हैं। अपने चरन की धूर बुहारते पीढ़ियाँ गल गई। ... छोटा–बड़ा। भगवान के द्वार से ही लोग बनकर आते हैं मालिक।''[10] इस प्रकार की भाव–भंगिमा का प्रारूप समाज में किसी न किसी रूप में आज भी देखने को मिलता है। समकालीन परिवेश में स्वर्ण और अस्वर्ण जातियों में एक ऐसा वर्ग उभर कर सामने आया है जिसने तार्किकता और बौद्धिकता के माध्यम से जातिगत भेदभाव को अस्वीकार किया है।[11]

आंचलिक उपन्यासों में विवाह की प्रासंगिकता, एकपत्नीव्रत और सतीत्व आदि पति–पत्नी संबंधों आदि मूल्यों को यथावत् स्वीकार किया है। रामरूप की पत्नी (सोनामाटी), वासंती (जल टूटता हुआ) और सुगनी (बलचनमा) में सुहाग को सर्वोच्च मूल्यों के रूप में स्वीकार किया है जिससे पति–पत्नी में एकनिष्ठा का भाव दिखाई देता है लेकिन कतिपय उपन्यासों में इस भाव का अवमूल्यन भी दिखाई देता है। 'आधा गाँव' में सैयद परिवारों के पुरूष रखैल रखते हैं। इसी प्रकार 'जल टूटता हुआ' का दीन दयाल,'अलग–अलग वैतरणी' के सुरजू सिंह और बुझारथ सिंह तथा 'रागदरबारी' कै वैद्य जी आदि पुरूष परनारी गमन करके अपनी वासना की तृप्ति करते दिखाई देते हैं। उधर इन उपन्यासों में अनमेल विवाह की समस्या को भी उठाया गया है। 'देहाती दुनिया' में वितृष्णा के भाव को प्रकट करते हुए पत्नी कहती है–'' मुँह झौसें के किसी इंग में छूकर भी लाज नहीं है। मुझें अपनी खुरदरी दाढ़ी और चिपके हुए गाल दिखाने आता है.... .....बातें करते भी जी घिनाता है।''[12] और निम्न वर्ग की औरतों के परपुरूष अंकशायिनी होने के पीछे सामंती व्यवस्था और प्रलोभन प्रमुख कारण हैं। 'देहाती दुनिया की सुगिया को दरोगा की कामुकता का शिकार होना पड़ा। इसी प्रकार 'परती परिकथा' का महीचन चमार अपनी पत्नी पर शक करता है कि उसके योगेन्द्र भूमिहर से अवैध सम्बन्ध हैं। 'अलग–अलग वैतरणी', सूरज किरण की छाँव, 'जल टूटता हुआ' आदि उपन्यासों में यौन सम्बन्धों पर विस्तार से चर्चा हुई है। अतः परम्परा से वर्जित यौन–सम्बन्धों को नैतिक मूल्यों का अवमूल्यन कहा जाएगा। भाभी (अलग–अलग वैतरणी), अनुजवधु (रतिनाथ की चाची), मौसरी बहन (मैला आंचल) आदि में यौन संबंधों का खुला चित्रण किया गया है।

आंचलिक उपन्यासों में नारी पात्र–प्यारी (कब तक पुकारूँ), मलारी (परती परिकथा), बदमी (जल टूटता हुआ) परबतिया (नदी फिर बह चली) इत्यादि किसी न किसी मूल्य का प्रतिनिधित्व एवं प्रतिपालन करती दिखाई देती हैं। ये पात्र परम्परागत मूल्यों से संघर्ष करते हुए नवीन मूल्यों की ओर कदम बढ़ाते दिखाई देते हैं। इसी दिशा में 'सागर, लहरें और मनुष्य' की नारी पात्र रत्ना अपने पति के अत्याचारों और निरकुंशता का प्रतिरोध करती है। नारी लम्बे अर्से से रूढ़ियों और परम्पराओं का शिकार रही वहीं पुरूष की कामुकता से भी प्रताड़ित होती रही, इस प्रकार नारी अस्मिता के लिए भी संघर्ष करती दिखाई देती है। 'आधा गाँव' की सईदा जो शिया मुस्लिम समुदाय से सम्बन्ध रखती है, पढ़ लिखकर नौकरी करती है, स्वावलम्बी बनना चाहती है तो उसे अनेक अपवादों और लांछनों का सामना करना पड़ता है। 'कब तक पुकारूँ' की प्यारी भी शोषण चक्र का अपने ढ़ंग से विरोध करती है। अतः हम कह सकते हैं कि उपन्यासकारों ने नारी पात्रों के माध्यम से ग्रामीण परिवेश में नारी की दयनीय दशा का चित्रण कर नारी मुक्ति संघर्ष को महत्व दिया है।

संदर्भ सूची

1. डॉ. कुँवरपाल सिंह, हिन्दी उपन्यासः सामाजिक चेतना, पृ. 17
2. डॉ. उर्मिला गंभीर, प्रतापनारायण श्री वास्तव के उपन्यासों का समाजशास्त्रीय अध्ययन, पृ. 38

3. रामदरश मिश्र, पानी के प्राचीर (पूर्वाभास)
4. श्रीलाल शुक्ल, रागदरबारी, पृ. 167
5. वहीं वहीं, वहीं
6. नागर्जुन, अलग–अलग वैतरणी, पृ. 150
7. फणीश्वरनाथ रेणु, मैला आंचल, पृ. 52
8. वही, परती परिकथा, पृ. 26–27
9. रांगेय राघव, कब तक पुकारूँ, पृ. 40
10. वहीं, धरती धन न अपना, पृ. 14
11. श्री लाल शुक्ल, राग दरबारी, पृ. 41
12. शिवपूजन सहाय, देहाती दुनिया, पृ. 56